सन्मार्गप्रवृत्ति हेतु गुरूपदेश का महत्त्व

सुश्री ऋचा शर्मा

गुरु का महत्त्व निर्विवाद है। संस्कृत गद्यकवि बाणभट्ट की कादम्बरी कथा में शुकनास मन्त्री के द्वारा युवराज चन्द्रापीड को प्रदत्त उपदेश 'गुरु-उपदेश' का एक निदर्शन है, जो युवाओं, विद्यार्थियों, राजनेताओं एवं सामान्यजन को भी दिशाबोध प्रदान करता है। शोधछात्रा ऋचा शर्मा ने शुकनासोपदेश के मर्म को समग्रता से प्रस्तुत किया है। साथ ही भगवद्गीता,मनुस्मृति, विवेकचूड़ामणि, धम्मपद आदि ग्रन्थों से भी अपने प्रतिपाद्य की पुष्टि की है। **-सम्पादक**

भारतीय वैदिक वाङ्मय एवं लौकिक वाङ्मय दोनों ही गुरु-गरिमा से अटे पड़े हैं। गुरु को ब्रह्मा विष्णु, महेश और परब्रह्म की सञ्ज्ञा दी गयी है। 'ब्रह्म अपनी शक्ति से प्रेरित होकर ब्रह्म-प्राप्ति में लगे हुए सच्चे साधकों का रक्षण, पोषण आदि अनुग्रह करता है। यह शक्ति ईश्वरीय है और इसी को गुरु कहते हैं। शक्ति और शक्तिमान् में वास्तविक भेद नहीं होने से ब्रह्म ही गुरु है और गुरु से ही ब्रह्म की प्रतिष्ठा होती है।[1]

'गुरु' शब्द की व्युत्पत्ति

गृणाति-उपदिशति वेदादिशास्त्राणि इन्द्रादिदेवेभ्यः असौ गुरुः[2] अर्थात् जिसने वेद-शास्त्रों का इन्द्र आदि देवताओं को उपदेश दिया, उसे 'गुरु' सञ्ज्ञा दी गई, अतः कहा गया- 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।' यही गुरु शब्द लोक में वेदादि शास्त्रों, आगम ग्रन्थों के अध्ययनपूर्वक शिष्यों को उपदेश देने वाले लौकिक उपदेष्टा में भी व्यवहृत हुआ। इसी प्रकार 'गुकारस्तमसि रुकारस्तन्निवारणे'- यह व्युत्पत्ति भी है अर्थात् 'गु' शब्द का अर्थ है 'अन्धकार' तथा 'रु' शब्द का अर्थ है 'निवारण'। अज्ञानरूपी अन्धकार का ज्ञानरूपी प्रकाश के द्वारा निवारण करने वाले को 'गुरु' कहते हैं।

ज्ञान का स्रोत गुरु

'न हि ज्ञानादृते मुक्तिः' अर्थात् ज्ञान के बिना भव-बन्धन से मुक्ति सम्भव नहीं है और ज्ञान की प्राप्ति 'गुरु' के बिना कहाँ ? अतः 'गुरु' को इस भवसागर से पार लगाने वाला माना गया है।[3] गुरु-सम्मान की व्याख्या यत्र-तत्र उपलब्ध है। गुरु की आज्ञा का बिना किसी तर्क-वितर्क के पालन करना चाहिए।[4] इस प्रकार के सभी तथ्य तब तक निराधार ही प्रतीत होते हैं जब तक कि इनमें हमारी आस्था

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जागरित नहीं होती। आस्था भी तब तक नहीं जाग सकती जब तक हमें इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल जाता कि गुरु की क्या आवश्यकता है? क्यों हम गुरु को इतना महत्त्व देते हैं? गुरु-भक्ति क्यों आवश्यक है? क्या वास्तव में गुरु-महिमा का कोई औचित्य भी है? इन सभी शङ्काओं को अन्तःस्थ कर यहाँ प्रतिपादन किया जा रहा है।

जब हम प्रार्थना करते हैं- असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतं गमय ।।[5] तो यहाँ अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने की हम कामना करते हैं जो गुरु की भक्ति से प्राप्त सज्ज्ञान अर्थात् 'सत्' तत्त्वज्ञान, 'अमृत' तत्त्वज्ञान रूपी 'गुरुतत्त्व' ज्ञान के बिना असम्भव है। अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करने वाला गुरु में स्थित 'गुरुतत्त्व' ही है। 'गुरु तत्त्व' का प्रताप इतना प्रचण्ड है कि बिना गुरु (व्यक्ति) के दर्शन के भी 'एकलव्य' बना जा सकता है, किन्तु इसके लिए 'साधना'[6] आवश्यक है। गुरु का ध्यान ही 'एकलव्य' की साधना थी। वह 'गुरुतत्त्व' जिस व्यक्ति, शास्त्र आदि से प्रकट हो जाए वही जिज्ञासु का 'गुरु' माना जाता है। गुरु अंधकार को अपने 'ज्ञान' से दूर भगाते हैं। लौकिक और वैदिक-दोनों ही क्षेत्रों में ज्ञान को सम्मान का आधार स्वीकार किया गया है। अतः 'मनुस्मृति' में कहा गया है कि धन से उत्तम बन्धु, बन्धु से अतिशय आयु, आयु से श्रेष्ठ कर्म और कर्म से पवित्र ज्ञान वाले उत्तरोत्तर अधिक सम्माननीय हैं और ज्ञानवान् सर्वाधिक आदर योग्य माना गया है।[7]

भगवद्गीता में गुरूपदेश

गीता में भी कहा गया है- 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'[8] अर्थात् ज्ञान के समान संसार में कुछ भी पवित्र नहीं है। गुरूपदेश ही वह साधन है जो अन्धकार को दूर करता है। गुरु के कृपापात्र व्यक्ति के लिए तो ब्रह्मज्ञान भी सुलभ है। गुरुवाणी में ही गुरुता है। गुरु के पास तो केवल ज्ञान है, वाणी है, उपदेश है, विद्या है, कला है। यह उपदेश हमारे जीवन से जुड़ा है। गुरुवाणी में ही सार है।

गुरु के उपदेश में जो सामर्थ्य है वह किसी भी अस्त्र-शस्त्र में नहीं, किसी मन्त्रोच्चार में नहीं। यह उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया तो वह 'गीता' के रूप में विख्यात हो गया। युद्ध में अर्जुन ने स्वयं को श्रीकृष्ण का शिष्य कहा है और उनसे प्रार्थना भी की है कि आप शरणागत मुझ को शिक्षा प्रदान करें।[9] 'गीता' हमारा धर्मग्रन्थ है, आदर्श है, भगवान् की वाणी है। इसमें हमारा अटूट विश्वास है। वस्तुतः यह 'गीता' अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करने वाला गुरूपदेश ही तो है। 'गीता' 'महाभारत' का एक भाग है तथापि 'महाभारत' से 'गीता' जो कि उपदेश है, की ख्याति अधिक है। 'गीता' कोई कथावाचन नहीं है, फिर भी इसका उपदेशात्मक स्वरूप अधिक महत्त्वपूर्ण है, रुचिर है। 'महाभारत' का पाठ करने की परम्परा नहीं है। किन्तु उपनिषद् विद्या होने के कारण 'गीता' के नियमित पाठ की परम्परा है, क्योंकि 'गीता' श्री कृष्ण के मुखारविन्द से साक्षात् निःसृत उपदेश मानी गई है।[10] 'गीता' पर ही

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

रखकर न्यायालयों में शपथ दिलाई जाती है, 'महाभारत' पर नहीं। 'गीता' तो 'महाभारत' का अंश है। फिर 'गीता' पर ही क्यों? 'महाभारत' के ऊपर हाथ रखकर शपथ क्यों नहीं दिलाई जाती? शायद गुरुपदेश की महत्ता और औचित्य का यह प्रमाण है। यदि इसे 'प्रमाण' न भी मानें तो भी गुरु के उपदेश (=गीता) का 'मान' तो है ही, क्योंकि कृष्ण को जगत् का गुरु कहा गया है- 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्' और 'गीता' कृष्ण की वाणी है।

कादम्बरी का गुरूपदेश

अर्जुन को दिए गए 'गीतोपदेश' की भाँति ही 'शुकनासोपदेश' भी गुरूपदेश की महत्ता में प्रमाणस्वरूप है। 'महाभारत' के अंश 'गीता' की भाँति ही 'शुकनासोपदेश' भी 'कादम्बरी'[11] का एक अंश है। यह भी शुकनास द्वारा युवराज चन्द्रापीड को दिया गया गुरु का उपदेश ही है। गुरु, शिष्य, शिक्षा एवं शिक्षण का प्रकरण हो और वहाँ 'कादम्बरी' का उल्लेख करना छूट जाए तो वह प्रकरण अधूरा है। इस प्रकरण के लिए तो 'कादम्बरी' अकेले ही पर्याप्त है।

गुरु की महिमा का जो सुन्दर एवं समुचित विस्तृत वर्णन 'कादम्बरी' गद्य काव्य में दिया गया है वैसा सारगर्भित वर्णन अन्यत्र असम्भव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। 'कादम्बरी' महाकवि बाणभट्ट का वह गद्य-काव्य है जिसमें उसने कोई विषय अछूता नहीं छोड़ा है जो परवर्ती कवियों या साहित्यकारों के लिए नवीन विषय बन सके। 'कादम्बरी' में पदार्थवर्णन पढ़ने के पश्चात् संसार के पदार्थों का अलग से वर्णन करना बाण के वर्णन का उच्छिष्ट (जूठन) मात्र प्रतीत होता है। अतः कहा गया है-

'बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्'[12]

गुरु-माहात्म्य को भी बाणभट्ट ने अपना वर्ण्य-विषय बनाया है। 'कादम्बरी' का 'शुकनासोपदेश' नामक अंश इस सन्दर्भ में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आज के इस भौतिकवादी दौर में भी 'कादम्बरी' का कोई न कोई अंश संस्कृत-गद्य के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत अवश्य पढ़ाया जाता है। विद्यार्थियों के लिए तो इसका 'शुकनासोपदेश' नामक अंश विशेष पठनीय है। मंत्री शुकनास का यह उपेदश चन्द्रापीड के लिए ही नहीं है, अपितु समस्त विद्यार्थी वर्ग अथवा युवावर्ग के लिए है। इसमें गुरु-माहात्म्य का अतीव उत्कृष्ट वर्णन है। 'शुकनासोपदेश' सञ्ज्ञक इस खण्ड में मन्त्री शुकनास ने युवराज चन्द्रापीड को जो उपदेश दिया है वह तरुण समाज की दुर्बलताओं को यथार्थतः उजागर करता है और दुर्बलताओं को दूर करने के लिए सचेत भी करता है। इस उपदेश में मानव की जिन दुर्बलताओं का वर्णन किया गया है, उनके विषय में युवावस्था में प्रवेश के समय स्मरण किया जाए तो कुपथ का मार्ग अवरुद्ध किया जा सकता है। इस गम्भीर उपदेश के मनन से हमारे ज्ञान का क्षेत्र विशद बनता है और इन्द्रियनिग्रह भी होता है। यह उपदेश हमें सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करता है और कुमार्ग से विमुख करता है। अतः इस उपदेश का विस्तृत वर्णन करना यहाँ प्रसङ्गोचित है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

चन्द्रापीड के जब यौवराज्याभिषेक की तैयारियाँ की जा रही थीं तब मन्त्री शुकनास ने उपदेश देते हुए कहा कि 'यौवन' में स्वभावतः ही एक ऐसा अन्धकार उत्पन्न होता है जो सूर्य के द्वारा भी अभेद्य है, जिसे न तो किसी मणि के आलोक से और न ही किसी दीपक की आभा से दूर किया जा सकता है।[13]

शुकनास ने 'लक्ष्मी' के मद को ऐसा भीषण बताया है जो कि उम्र बीत जाने पर भी शान्त नहीं होता है।[14] वास्तव में धन से उत्पन्न नशा कभी दूर नहीं होता है।

'ऐश्वर्य' की तुलना तिमिरान्ध (रतौंधी) रोग से की गई है[15] और अहङ्कार को अनेकशः शीतोपचार से भी नहीं शान्त होने वाले भीषण दाहक ज्वर के सदृश बताया है[16]। श्री शंकराचार्य ने भी अहङ्कार को नीरोगी रहने में बाधक माना है। उन्होंने अहङ्कार को महाभयङ्कर सर्प की उपमा दी है और कहा है कि जब तक शरीर में इस सर्प का थोड़ा सा भी विष रहेगा तब तक वह मनुष्य को नीरोगी नहीं रहने देगा।[17] इसका एकमात्र उपचार उन्होंने 'विज्ञान' को ही माना है। इस अहङ्कार रूपी शत्रु को ज्ञान रूपी महाखड्ग से छिन्न किया जा सकता है।[18] अतः अहङ्कार का नाश अत्यावश्यक है जो ज्ञान से ही होगा और 'गुरु बिन ज्ञान कहाँ?'

शुकनासोपदेश में 'विषय' की तुलना विष से की गई है। विष से जायमान मूर्च्छा तो मन्त्रोपचार अथवा जड़ी-बूटियों से दूर की जा सकती है, परन्तु विषय रूपी विष के आस्वादन से उत्पन्न मोह रूप मूर्च्छा तो मन्त्रों और जड़ी-बूटियों से भी अभेद्य है। 'राग' को नित्यस्नान से भी शुद्ध न होने वाले मल के लेप की संज्ञा दी गई है। 'राजसुख' को कभी न टूटने वाली भीषण निद्रा के सदृश बताया है।

जन्म से ही ऐश्वर्यलाभ, नवयौवन, अनुपम सौन्दर्य और अमानुषी शक्ति-यह अनर्थ की एक ऐसी शृङ्खला है, जिसकी प्रत्येक कड़ी अपने आप में सभी अवगुणों के आधान के लिए पर्याप्त है। जहाँ यह सम्पूर्ण समवाय (शृङ्खला) विद्यमान हो, वहाँ तो कहना ही क्या?[19] इस अनर्थ से मुक्ति तो केवल गुरु के मार्गदर्शन से ही हो सकती है। अतः मन्त्री शुकनास ने भवबन्धन में बाँधने वाले और अनर्थ के इन कारकों के दुष्प्रभावों की विस्तृत व्याख्या करते हुए गुरु के उपदेश के महत्त्व को चन्द्रापीड के सम्मुख रखा है। यह चन्द्रापीड कोई भी हो सकता है- एक विद्यार्थी, नवयुवक, सत्ताधारी, बलशाली अथवा कोई भी शुभेच्छु।

गुरूपदेश द्वारा यौवनजन्य विकारों का अवबोधन

युवावस्था में शास्त्रज्ञान से निर्मल बुद्धि भी कलुषित रहती है। यौवनारम्भ में शास्त्रों का ज्ञान भी बुद्धि के लिए पर्याप्त नहीं है। धवल होते हुए भी नेत्र 'राग' की लालिमा से लाल रहते हैं और रजोगुण की प्रबलता आंधी के द्वारा सूखे पत्तों की भाँति मनुष्य को बहुत दूर तक उड़ा ले जाती है।[20] रजोगुण को ही

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

बन्धन का कारण माना गया है। 'गीता' में भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है-

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।।[21]

अर्थात् हे अर्जुन! रागरूपी रजोगुण को कामना और आसक्ति से उत्पन्न जानो। वह जीव को कर्म और फल के सम्बन्ध से बाँधता है।

शुकनास के अनुसार मृगतृष्णा की भाँति मनुष्य की इन्द्रियाँ सदा विषयभोग की ओर आकृष्ट रहती हैं। कसैली वस्तुओं, जैसे- आँवला, हरड़ आदि, के ऊपर जल प्राकृतिक माधुर्य से अधिक मीठा लगने लगा है। नवयौवन में भी मनुष्य का अन्तःकरण कामक्रोधादि से कसैला होता है, ऐसे में विषयरूप जल उसे आपाततः अधिक मधुर लगने लगता है। विषयों में यह अत्यासक्ति ही मनुष्य को नष्ट कर डालती है। मनुस्मृति में इन्द्रियों के वशीभूत और धर्म से च्युत मनुष्य को अविद्वान् माना गया है। ऐसे मनुष्य नीच जन्म और बुरे-बुरे दुःखरूप जन्म को पाते हैं।[22]

अज्ञान, ऐश्वर्य का दर्प, अहङ्कार, विषयाभिलाष एवं श्री, सौन्दर्य और शक्ति का मद- इन सभी को जागरित कर मनुष्य का पतन करने में 'युवावस्था' अकेले ही समर्थ होती है। यह यौवनावस्था सभी कालुष्यों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

गुरूपदेश द्वारा लक्ष्मी के दोषों का कथन

शुकनासोपदेश में लक्ष्मी में राग, वक्रता, चञ्चलता, मोहनशक्ति, मद और नैष्ठुर्य आदि अवगुणों का आख्यान किया गया है। यह रूपक द्वारा संकेतित किया गया है कि मानो समुद्र-मन्थन के समय लक्ष्मी ने क्रमशः पारिजात (कल्पवृक्ष) के पल्लवों से राग, चन्द्रमा की कोर से वक्रता, उच्चैःश्रवा नामक अश्व से चञ्चलता, कालकूट (विष) से मोहनशक्ति, मदिरा से मद और कौस्तुभमणि से निष्ठुरता- ये अवगुण विरहजन्य दुःख दूर करने के लिए, साङ्केतिक रूप में ग्रहण किए थे।[23] इस प्रकार यह लक्ष्मी स्वभावतः ही आरुण्य उत्पन्न करने वाली, कुटिल, अस्थिर, वशीकरण सामर्थ्य से युक्त, उन्मादित कर देने वाली और निर्दयी प्रवृत्ति की है। ऐसे कल्मष (दुष्ट) स्वभाव वाली यह लक्ष्मी जिसका भी वरण करती है उसे भी कलुषित बना देती है। इस लक्ष्मी की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है और मिल भी जाए तो संरक्षण कठिन है। इस प्रकार इसका 'योगक्षेम'[24] अत्यन्त दुष्कर है। रस्सी से बाँध दिया जाए या योद्धाओं की तलवारों के पिञ्जरे में कैद कर दिया जाए अथवा मदजल की वर्षा से अन्धकार कर देने वाले हाथियों के घेरे में रख दिया जाए- इस प्रकार कृत किसी भी यत्न के द्वारा इसका योगक्षेम सम्भव नहीं।

परिचय, मर्यादा, रूप, कुलपरम्परा, शील, वैदग्ध्य (पाण्डित्य), शास्त्र, धर्म, सत्य, त्याग,

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेषता, आचार का पालन, लक्षणप्रमाण- देखते ही अदृष्ट हो जाने वाली यह लक्ष्मी किसी का भी न तो विचार करती है और न ही सम्मान। यह चञ्चल लक्ष्मी कहीं भी नहीं ठहरती है। यहाँ-वहाँ परिभ्रमण करती रहती है, मानो मन्दराचल के घूमने से उत्पन्न भंवर का संस्कार इसमें आज भी विद्यमान हो। मानो कमलिनी में घूमने से कमलनाल के काँटे इसके पैरों में लगे हों, अतः कहीं भी नहीं टिकती है। सूर्य जिस प्रकार मेष, वृष, मिथुन आदि द्वादश राशियों में वर्षभर इतस्ततः संक्रमण करता है, उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास सञ्चरण करती रहती है।

यह धूर्तों का ही आश्रय लेती है। विद्वान्, गुणवान्, उदार, सज्जन, कुलीन, वीर, दानी, विनम्र और मनस्वी पुरुषों की ओर तो देखती भी नहीं है। पाताल लोक की कन्दरा (गुफा) जिस प्रकार तम अर्थात् अन्धकार से भरी होती है, उसी प्रकार यह भी तमोगुण प्रधान है। अज्ञान, आलस्य, जड़ता, निद्रा, प्रमाद, मूढता आदि तम के गुण माने गए हैं। तमोगुणी पुरुष निद्रालु और स्तम्भ के समान जडवत् होने के कारण कुछ भी जानने में असमर्थ होता है।[25]

अल्पसाहसी पुरुषों को जिस प्रकार पिशाचिनी अपनी बहुपुरुष परिमित ऊँचाई दिखाकर भयोन्मत्त कर देती है, उसी प्रकार यह लक्ष्मी भी अल्पबुद्धि पुरुषों को उन्नति दिखाकर उसे पाने की लालसा में उन्मत्त बना देती है। यह सदैव विरुद्धधर्मसमन्वित चरित्र प्रदर्शित करती है, यथा- समुद्रमन्थन के समय जल में उत्पन्न होकर भी प्यास (लालच) बढ़ाती है, अमृत की सहोदरा होती हुई भी जड़ता उत्पन्न करती है अर्थात् धन का अहङ्कार उत्पन्न करके मानव को जड़ = सदसद्विवेकशून्य बना देती है। धूल के समान निर्मल को भी मलिन कर देती है अर्थात् शुद्ध हृदय को भी रजोगुणी (अहङ्कारादि दोषों से युक्त) बना देती है।

लक्ष्मी के कालुष्यों का प्रभाव

पूर्वोक्त वर्णन से लक्ष्मी की कलुषता स्पष्ट है। स्वभाव से ही कलुषित लक्ष्मी अपनी छाप छोड़े बगैर कैसे रह सकती है? अर्थात् अपने सान्निध्य से यह विमल को भी कलुषित कर देती है। शुकनासोपदेश में इसे दीपशिखा (दीपक की लौ) के सदृश बताया गया है जो सदा काजल जैसे काले कर्म को ही उगलती है।[26] यह तृष्णाओं को तृप्त नहीं करती है, अपितु उसे और बढ़ाती ही है। इसके सिञ्चन से तृष्णा रूपी बेल उत्तरोत्तर संवर्धित ही होती है। हरिणों को जिस प्रकार व्याध का गीत आकर्षित करता है उसी प्रकार यह (लक्ष्मी) इन्द्रियों को अपनी ओर खींच कर जाल में फँसा देती है। यह ऐसी धूमलेखा है जो सच्चरित्र को उसी प्रकार ढक देती है जैसे धुँआ चित्र को आच्छादित कर देता है।[27] इसके प्रभाव से मोह, धनाभिमान, दुराचार, क्रोध, विषय, भ्रूविकार, काम, लोकनिन्दा, छल और कपट का विवर्धन होता है और सद्व्यवहार, दया-दाक्षिण्य, साधुभाव, धर्माचरण, शास्त्रज्ञान, सद्गुणों

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

का नाश हो जाता है। शुकनास ने इसे शास्त्र रूपी नेत्रों के लिए तिमिरान्ध रोग कहा है।[28] तिमिर रोग (रतौंधी) से दर्शन-शक्ति विनष्ट हो जाती है। इसी प्रकार यह लक्ष्मी भी वेद-वेदाङ्ग-स्मृति आदि शास्त्रों के ज्ञान पर अपने कलुषित प्रभावों (काम, क्रोध, मोह आदि) का ऐसा पर्दा डाल देती है कि हमारी विवेकशक्ति उस अन्धेरे में पथभ्रष्ट हो जाती है। काम, क्रोध तथा लोभ- ये तीनों आत्मा का नाश कर देते हैं।[29]

लक्ष्मीमद से शासकवर्ग में विकृति

शुकनासोपदेश में लक्ष्मी के मद से राजाओं में उत्पन्न होने वाले जिन विकारों का वर्णन किया गया है, वे आज भी प्रासङ्गिक हैं। राजा एक शासक हुआ करता था जो प्रजा के पालन का उत्तरदायित्व वहन करता था। आज जनता के लिए जनता द्वारा ही चुने हुए राजनेता इस कार्यभार को वहन करते हैं। ये सत्ताधारी नेता ही आज 'राजा' के सम्मान को प्राप्त करते हैं और मन्त्री शुकनास का यह उपदेश इन पर भी यथावत् ही चरितार्थ होता है। राजा या सत्ताधारी ही नहीं प्रत्येक लक्ष्मी का कृपापात्र इस उपदेश का पात्र है, क्योंकि यह लक्ष्मी अपने कृपापात्र प्रत्येक व्यक्ति में विकार उत्पन्न कर ही देती है।

यह लक्ष्मी राजाओं का आश्रय प्राप्त कर उन्हें विह्वल कर देती है। धन का लोभ, विषयासक्ति, शब्द-स्पर्शादि विषयों के रसास्वादन की इच्छा और व्याकुल मन के कारण वे अधीर हो उठते हैं। लक्ष्मी उन्हें सभी अविनयों का अधिष्ठान बना देती है। उदारता, क्षमा, सत्यवादिता, दया आदि सभी गुणों को नष्ट कर अज्ञान के पाश में बाँध देती है। इस कारण वे जरागमन (वृद्धावस्था) के स्मरण से विस्मृत हो जाते हैं। जयघोष के कलरव के कारण उन्हें सद्वचन सुनायी नहीं देते हैं। लक्ष्मी के सम्पर्क में आते ही राजा लोग इस प्रकार चञ्चल हो उठते हैं मानो किसी मन्त्रशक्ति ने उन्हें वश में कर लिया हो अथवा धन के अहङ्कार की अग्नि में झुलसने से छटपटा रहे हों। लक्ष्मी के सम्पर्क से वे केकड़े की भाँति टेढ़ी-मेढ़ी अर्थात् कुटिल चाल चलने लगते हैं।[30] वास्तव में आज भी सत्ता पाने के लिए राजनेता छटपटाते रहते हैं और कुटिल चाल चलते रहते हैं। राजनीति तो भ्रष्टाचार और कुटिल नीतियों का पर्याय ही बन गई है। धन का लालच उन्हें नई-नई भ्रष्ट नीतियाँ स्वतः ही सिखा देता है।

'सप्तपर्ण' नामक वृक्ष जिस प्रकार अपने पुष्परज (पराग) के विकार से अपने आसन्नवर्ती जनों के सिर में दर्द उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार ये राजा लोग अपने रजोगुणी विकारों (काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, असूया, अहङ्कार, ईर्ष्या और मत्सर)[31] से उत्पन्न अवज्ञासूचक नेत्रों से समीपस्थ जनों को दुःखी कर देते हैं। अपने बन्धुजनों को भी नहीं पहचान पाते हैं और उत्कृष्ट मन्त्रणाओं के द्वारा भी अपने कर्त्तव्यों को नहीं समझ पाते हैं। दूसरों का तेज उन्हें उसी प्रकार सहन नहीं है जिस प्रकार लाख के आभूषण उष्मा नहीं सह पाते हैं। आज के सत्ताधारियों को भी प्रबल प्रतिपक्षी के प्रतापानल से अपनी स्थिति के

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

डावाँडोल होने का भय सताता रहता है। ये आज के सत्ताधारी आभूषण के समान ही हैं जिनका 'चरित्र' जरा-सी सत्य रूपी आँच से पिघलकर जनता के सामने आ जाता है। अतः ये हमेशा सच्चाई उजागर होने के भय से भयभीत रहते हैं। अहङ्कारवश किसी भी उपदेश को हृदयङ्गम नहीं करते हैं। तृष्णा (लालसा) के विष से मोहित होने के कारण ये राजा लोग हर वस्तु में सुवर्ण को ही देखते हैं। मद्यपान के कारण उग्र स्वभाव वाले ये राजा दूसरों से प्रेरित होकर विनाश कार्य में लग जाते हैं। मद्यपान आज भी युवाओं, सत्ताधारियों, धनिकों और यहाँ तक कि निम्न वर्ग के लोगों के बीच फैला हुआ विकार है। नशे के परिणाम आज हम सभी भली-भाँति जानते हैं। नशा किस प्रकार मनुष्य को नष्ट कर डालता है- इसे समझने के लिए विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। आज इसके दुष्परिणाम हम देख भी रहे हैं और यथास्थान पढ़ भी रहे हैं। मद्यपान से व्यक्ति अपने शरीर का ही नहीं दूसरों का भी अहित कर डालता है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने भी कहा है- 'शराब आदमी का शरीर ही नहीं आत्मा का भी नाश करती है।''

अहङ्कार के वशीभूत होकर अनुचित्त दण्ड-प्रयोग के द्वारा राजा दूरस्थ कुलीन लोगों पर भी चोट पहुँचाते हैं और असामयिक खिले हुए पुष्प की भाँति मनोहर होने पर भी लोगों के विनाश के हेतु होते हैं।[32] 'दण्ड' के उचित्त प्रयोग हेतु शासक को विवेकी एवं तेजस्वी होना आवश्यक है। इसे कोई अविद्वान् और अधर्मात्मा शासक धारण नहीं कर सकता है और यदि धारण कर भी ले तो यह 'दण्ड' कुलसहित उस अविवेकी राजा का नाश कर देता है।[33] शास्त्रों में 'दण्ड' की इस प्रकार की अपार महिमा का वर्णन मिलता है। 'दण्ड' के अनुचित प्रयोग से राजा दूसरों का ही नहीं अपना भी अहित कर डालता है। वे तिमिरान्ध (रतौंधी) रोग की भाँति दूर तक देखने में असमर्थ होते हैं अर्थात् सम्पत्ति और अधिकार का मद उन्हें दूरगामी परिणाम को सोचकर कार्य करने में असमर्थ बना देता है। रात-दिन बढ़ते हुए पाप से ही उनकी देह फूलती जाती है। ऐसी अवस्था में अनेक व्यसन उन्हें अपना शिकार बना लेते हैं और वे उत्तरोत्तर पतन को प्राप्त होते जाते हैं, किन्तु फिर भी उन्हें अपना अपकर्ष दिखाई नहीं देता है। जैसे दीमक के वल्मीक (बाँबी) पर उगे तृण से गिरी जल की बूँद नीचे गिर जाने पर (मिट्टी सूखी होने के कारण) दिखाई नहीं देती है, उस जलबिन्दु के समान ही राजाओं को अपने पतन का अवबोध नहीं होता है।[34]

गुरूपदेश के अभाव में धन-सम्पत्ति से दुर्दशा

एक ओर जहाँ राजा अथवा धनिक लक्ष्मी के मोह में फँस जाते हैं वहीं दूसरी ओर धूर्त लोग भी उन्हें घेर लेते हैं। स्वार्थसिद्धि में लगे ये गिद्ध राजाओं की मति भ्रष्ट कर देते हैं और उन्हें अपनी बातों की वञ्चना से ठगते हैं। यथा-जुआ खेलना विनोद है, शिकार (प्राणिहिंसा) व्यायाम है, मद्यपान विलास है, गुरुवचनों की अवहेलना स्वाधीनता है, धृष्टता धारण करना सहनशीलता है- इत्यादि प्रकार की वाणी की वञ्चनाओं से वे अवगुणों को भी गुणों की श्रेणी में रखकर शासकवर्ग की ऐसी प्रशंसा की झड़ी लगा

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

देते हैं मानो किसी देवता की स्तुति कर रहे हों। अपने स्वामी को इस प्रकार का अहितकारी उपदेश देने वाला निन्दनीय माना गया है। इसी प्रकार हितप्रद वचन कहने वाले मंत्री अथवा मित्र की बात नहीं सुनने वाला स्वामी भी निन्दनीय है-

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं,
हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः।
सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं
नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः।।[35]

शासकवर्ग को इस प्रकार की बातों से मूर्ख बनाने वाले वे धूर्त वञ्चक मन ही मन सब समझते हैं और उपहास भी करते हैं, किन्तु धनमद से अचेतन राजा अथवा सुनने वाला व्यक्ति इस उपहास को समझ नहीं पाता और अपने आप को वैसा ही मानने लग जाता है। झूठा यशोगान उनको अच्छा लगने लगता है। ये अपने सेवकों से अपनी प्रशंसा सुनने के इच्छुक बन जाते हैं और अज्ञानतावश उन वञ्चनाओं (बातों) को सत्य मानकर अभिमान करने लगते हैं। वे अपने आपको देवता का अवतार समझने लग जाते हैं। स्वयं को देव समझने की धारणा उनकी मति भ्रष्ट कर देती है और इस प्रकार वे अपने आपमें कभी चतुर्भुजी विष्णु तो कभी तृतीय नेत्रधारी (भाललोचन) शिव की कल्पना करने लग जाते हैं।[36] इस कारण दर्शन देने को भी वे अनुग्रह, दृष्टिपात को उपकार, सम्भाषण को पारितोषिक, आज्ञा देने को वरदान और स्पर्श करने को पवित्र कर देना- मानने लगते हैं। इसी मिथ्या घमण्ड में वे न तो देवों को प्रणाम करते हैं और न ही गुरुजनों का सम्मान करते हैं। वे विद्वानों का उपहास करते हैं, वृद्धों के उपदेश को अनर्थक प्रलाप समझते हैं और हितैषियों पर क्रुद्ध हो जाते हैं। उनका गुणगान करने वाला ही उनकी दृष्टि में हितैषी है और वे उसी का अभिवादन करते हैं, उसी के सान्निध्य में रहते हैं, उसे ही विश्वासपात्र समझते हैं, उसी का सम्मान करते हैं, उसी पर धन बरसाते हैं, उसी को दान देते हैं और उसी की बात सुनते हैं। यहाँ तक कि नितान्त क्रूर प्रकृति वाले पुरोहितों एवं सलाहकारों को ही वे अपना गुरु समझते हैं। सहस्रों राजाओं द्वारा भोग कर परित्यक्त लक्ष्मी में ही उनकी आसक्ति रहती है। सहज प्रेम रखने वाले भ्रातृगणों का मूलोच्छेद कर देने में तत्परता दिखाते हैं। इस प्रकार लम्पटों द्वारा बेवकूफ बनाए गए ये लोग उपहास के पात्र बन जाते हैं। ऐसे विवेकहीन राजा अथवा धनी व्यक्ति इन लम्पटों के लिए अवाञ्छित लाभ प्राप्त करने के साधन होते हैं, जिन्हें ये मूर्ख बनाकर स्वार्थसिद्ध करते हैं। भर्तृहरि ने भी कहा है कि विवेक से पतित हुए प्राणियों का पतन सैकड़ों प्रकार से होता है - 'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।[37]

गुरु के उपदेश का माहात्म्य

कादम्बरी में मन्त्री शुकनास ने गुरु के उपदेश को समस्त मैल के प्रक्षालन में समर्थ जलरहित

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

स्नान कहा है। शरीर का मैल तो जल के स्नान से दूर हो जाता है, किन्तु मानसिक विकारों का प्रक्षालन तो गुरु-उपदेश रूपी जल से ही हो सकता है। जल को अमृत के समान माना गया है-'जलम् अमृतम्', किन्तु गुरुवाणी तो इस अमृत जल से भी अधिक प्रभावशाली है। जल जीवन है, किन्तु गुरुवाणी जीवन का मार्ग है। गुरु-शिक्षा से मनुष्य जरारहित वृद्धत्व को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि वृद्धावस्था में केशों का श्वेत होना आदि शारीरिक विकार हैं, किन्तु गुरु के उपदेश से मनुष्य तरुण अवस्था में ही ज्ञान का सागर बन जाता है और वृद्धजनों के समान ही सम्मान को प्राप्त होता है। बिना किसी शारीरिक विकृति के ही वह अधिक उम्र के लोगों द्वारा अर्जित अनुभवों के समान ज्ञाननिधि बन जाता है। वृद्धावस्था अनुभवों और ज्ञान का सञ्चय है। यह सञ्चय मनुष्य गुरु की कृपा से युवावस्था में ही प्राप्त कर लेता है। महर्षि मनु का यह वचन ध्यातव्य है-

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवा स्थविरं विदुः।।[38]

अर्थात् बाल सफेद हो जाने से व्यक्ति वृद्ध (बड़ा) नहीं माना जाता है, अपितु युवा व्यक्ति भी यदि ज्ञानी है तो वह बड़ा माना गया है। निष्कर्षतः ज्ञानवृद्ध वयोवृद्ध से श्रेष्ठ होता है। यही सारांश धम्मपद के इस अंश में भी द्रष्टव्य है-

न तेन थेरो होति येनस्स पलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्स मोघजिण्णो ति वुच्चति।।

(धम्मपद 19.5)

सिर के बाल पकने से कोई स्थविर नहीं होता, केवल उसकी आयु परिपक्व हो गई है, वह तो तुच्छ वृद्ध कहा जाता है।

महाकवि कालिदास ने भी कहा है कि ज्ञानवृद्ध लोगों के विषय में आयु समीक्षा का विषय नहीं होती। ज्ञान में ज्येष्ठ होने पर आयु की ज्येष्ठता का कोई महत्त्व नहीं होता है- 'न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते'[39]

यह गुरूपदेश चर्बी रहित गुरुता (गौरव) प्रदान करता है और स्वर्णनिर्मित नहीं होते हुए भी यह अतिसुन्दर कर्णाभरण है, क्योंकि सद्वचनों को सुनने से ही कानों की शोभा मानी जाती है। गुरु का उपदेश प्रदोषकालीन चन्द्रमा के समान है जो अत्यन्त मलिन दोषों के अन्धकार को भी दूर कर देता है। वृद्धत्व जिस प्रकार केशों को निर्मल करता हुआ श्वेत कर देता है उसी प्रकार गुरु की शिक्षा भी दोषों को निर्मल करती हुई गुणों में परिणत कर देती है। शुकनासोपदेश में गुरुवचन को 'प्रकाश' की सञ्ज्ञा दी गई है।[40] यह ऐसा प्रकाश है जो प्रकाश के स्रोत सूर्य और शीतल आनन्द किरण चन्द्रादि ज्योतियों से भी बढ़कर है। संसार की प्रत्येक वस्तु का ज्ञान इन ज्योतिपुञ्जों से सम्भव है, किन्तु अज्ञान के अन्धकार में

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

छिपे हुए विषय का ज्ञान तो इनसे भी अभेद्य है। ऐसे प्रत्येक विषय का साक्षात्कार गुरु के उपदेश से ही सम्भव है। यह गुरु ज्ञान बिना उद्वेग का जागरण है। इस जागरण में किसी भी प्रकार की बेचैनी और थकान का अनुभव नहीं होता है। गुरु की दी हुई शिक्षा मनुष्य को विषयों से बचाने के लिए सदा ही जागरूक बनाए रखती है।

गुरूपदेश का काल और पात्र

गुरु के उपदेश की महत्ता इसी में है कि उस उपदेश को ग्रहण करने वाला उचित पात्र (शिष्य) भी हो। महर्षि पतञ्जलि ने गुरु को 'छत्र' की संज्ञा दी है। जिस प्रकार छत्र (छाता) गर्मी और वर्षादि से बचाता है, उसी प्रकार गुरु शिष्य के अज्ञान का निवारण करता है। छाता भी तभी मनुष्य का आच्छादन कर सकता है जबकि उस छाते के दण्ड को उचित तरीके से धारण किया जा सके। अतः 'छत्र' अर्थात् गुरु की आज्ञापालन (दण्डधारण) करने का जिसका स्वभाव हो वही 'छात्र' कहलाने का अधिकारी है। छत्र से ही 'छात्र' बना है।[41] छात्र अर्थात् शिष्य में वे गुण होने चाहिए जो विद्वानों से उनकी बुद्धि में निहित ज्ञान को ग्रहण कर लें।

'कादम्बरी' में शुकनास ने चन्द्रापीड से स्वयं कहा है कि उसने यह उपदेश चन्द्रापीड के गुणों से प्रसन्न होकर ही दिया है।[42] उपदेश के साथ-साथ उसे ग्रहण करने के लिए सुयोग्य होना भी अनिवार्य है अन्यथा इसका औचित्य नहीं रहता है। अयोग्य मनुष्य के कान में गुरुज्ञान लाभदायक होने पर भी कष्ट को आमन्त्रित करता है। जैसे जल निर्मल होता हुआ भी अनुचित स्थान कर्ण (कान) के भीतर प्रविष्ट हो जाने पर कर्णशूल का कारण बनता है। महाकवि भारवि ने भी हितकारी वचनों का मधुर होना दुर्लभ ही बताया है- 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'[43]। यही लाभप्रद गुरु-ज्ञान योग्य पुरुष के कान में पहुँचने पर उसी प्रकार मुख की शोभा को बढ़ाता है जिस प्रकार शङ्ख के आभरण गज की शोभा बढ़ाते हैं।

'शुद्ध हृदय' पर ही उपदेश अपना गुण प्रकट करते हैं। चन्द्रमा की किरणें उसी स्फटिकमणि पर भलीभाँति पड़ती हैं जो निर्मल हो। अतः गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान को दृढ़ करने के लिए दर्प, हिंसा आदि का त्याग, आचरण में शुद्धि आदि के द्वारा 'शुद्ध हृदय' को आवश्यक माना गया है।

'युवावस्था' गुरूपदेश के लिए स्वर्णिम समय है। विषयरस के आस्वादन से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए ही 'यौवनारम्भ' (गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पूर्व) में यह उपदेश उचित है, क्योंकि कामबाण के प्रहार से जर्जरित हृदय में से तो यह उपदेश छलनी में से नीर की भाँति बहकर निकल जाता है। सांसारिकता में फँसे व्यक्ति पर गुरु-ज्ञान का प्रभाव नहीं पड़ता। जैसे कुम्हार मिट्टी से बनाए हुए कच्चे घड़े को तो जैसी शक्ल देना चाहता है वैसी दे सकता है, किन्तु घड़े को पकाये जाने के पश्चात् उसकी आकृति में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता, उसी प्रकार गुरु का उपदेश भी प्रारम्भिक अवस्था में ही मानव को सुसंस्कारों से सज्जित कर सकता है, प्रौढ़ अवस्था में नहीं। युवावस्था के सुसंस्कार यावज्जीवन

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कायम रहते हैं, किन्तु प्रौढ़ावस्था के संस्कार क्षणिक होते हैं।[44] शिष्य की पात्रता के लिए उसमें 'विनय' का आधान होना आवश्यक है- 'विनयाद् याति पात्रताम्'।[45] कुल अथवा ज्ञान भी दुष्ट प्रकृति के मनुष्य को विनयी नहीं बना सकता- 'स्वभावो दुरतिक्रमः'। इसे अनेक उदाहरणों से समझा जा सकता है, यथा- क्या चन्दन की लकड़ी से उत्पन्न अग्नि जलाती नहीं है? क्या शैत्य प्रकृति वाले जल से भी वडवानल (समुद्र की अग्नि) अधिक दाहक नहीं होती है? स्पष्ट है यद्यपि चन्दन शीतल होता है, परन्तु उसमें लगी आग तो शीतलता नहीं पहुँचाती, और यद्यपि जल अग्निशामक है, परन्तु वडवानल तो ज्वारभाटा के रूप में विनाशकारी ही होता है। अग्नि का स्वभाव है- दाहकता (जलाना)। अग्नि यदि शीतल प्रकृति वाले चन्दन की लकड़ी में प्रवेश कर जाए अथवा जल का संस्पर्श प्राप्त कर ले तो भी उसका स्वभाव परिवर्तित नहीं हो सकता, वह दाहकताशक्ति को नहीं छोड़ेगी। इसी प्रकार अविनय प्रकृति का मनुष्य चाहे उच्च कुल वाला हो अथवा प्रकाण्ड विद्वान् हो, इससे उसके स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आता। विनम्रता रूपी गुण के अभाव में मनुष्य का स्वभाव समुचित उपायों से भी बदला नहीं जा सकता- 'अतीत्य ही गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते'। अभिवादनशील और सेवाभावी व्यक्ति विनम्र होता है। ऐसे शिष्य से प्रभावित होकर गुरु की स्वतः ही शिक्षा देने की इच्छा जागती है। इन गुणों से रहित व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अतः सभी शास्त्रों में शिष्य का अभिवादनशील और सेवाभावी होना आवश्यक माना गया है। मनुस्मृति में अभिवादनशील और नित्य वृद्धजनों की सेवा करने वाले व्यक्ति में आयु, विद्या, यश और बल की वृद्धि होने का सन्दर्भ प्राप्त होता है-

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्।।

सेवाभावी व्यक्ति गुरु में निहित ज्ञान को उसी प्रकार प्राप्त कर लेता है जिस प्रकार वह कुदाली से खोदता हुआ पानी को प्राप्त कर लेता है-

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति।।

ज्ञानेप्सु की गुरु में 'श्रद्धा' और 'आस्था' होना भी 'पात्रता' के लिए आवश्यक है। श्रद्धायुक्त होने पर ही ज्ञान मिलता है- 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'। गुरु और शास्त्र के वचनों की सत्यता और हितकारिता में दृढ़ विश्वास का नाम ही श्रद्धा है-

शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यवधारणम्।
सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते।।[48]

भगवान् श्री कृष्ण ने भी श्रद्धायुक्त पुरुष को अपना अतिशय प्रिय भक्त माना है- 'श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।[49]

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार गुरु-शिष्यों के मध्य पवित्र सम्बन्धों की महती आवश्यकता है। गुरु और शिष्य दोनों के अभिन्न सम्बन्ध को समझना चाहिए, तभी शिक्षा के मर्म को समझा जा सकता है। इसी का दूसरा नाम 'उपनिषद्' है। श्रद्धापूर्वक गुरुमुख से निरन्तर अधिगत विद्या (शिक्षा) ही मानव समाज को उपकृत कर सकती है। सही मायने में आज ऐसे शिक्षक और शिक्षार्थी जिस महाविद्यालय में हों वही शिक्षा-महाविद्यालय कहलाने के अधिकारी हैं।

निष्कर्ष

'कादम्बरी' में मन्त्री शुकनास के माध्यम से चन्द्रापीड को जो उपदेश दिया गया है, वह कल्याण के अभिनिवेशी प्रत्येक व्यक्ति के लिए मङ्गलायन है। हर वह व्यक्ति जो अपना उत्कर्ष चाहता है, कल्याण चाहता है, गुरु के महत्त्व को समझना चाहता है, उसे कादम्बरी का यह अंश अवश्य पढ़ना चाहिए। गुरु-माहात्म्य इसमें विवेचित है और यह 'कादम्बरी' का 'शुकनासोपदेश' नामक अंश स्वयं गुरु का उपदेश है। अतः किसी भी पहलू से देखें यह उत्कृष्ट अंश हमारे सभी प्रश्नों का समाधान भी करता है और हमारे ज्ञान के क्षेत्र को विस्तार भी प्रदान करता है। गुरु की महिमा उनकी शिक्षाओं में निहित है। ये शिक्षाएँ युवाओं, राजाओं अथवा देश का सञ्चालन करने वालों, धनिकों, ऐश्वर्यसम्पन्न मनुष्यों, अमानुषी शक्तिमान् जनों, अनुपम सौन्दर्य के धनी व्यक्तियों, लक्ष्य-प्राप्ति हेतु उद्यमी लोगों के लिए सोने पर सुहागा के समान कार्य करती हैं। साथ ही उन्हें विभिन्न दोषों से भी बचाती हैं। पूर्व में युवावस्था के विकारों का वर्णन किया जा चुका है। प्रत्येक युवा को इनसे बचने की चेष्टा करनी चाहिए। यौवनजन्य इन दोषों से बचने के लिए गुरु द्वारा पथ प्रदर्शन अत्यन्त आवश्यक है जो गुरु-महिमा का प्रायोगिक निदर्शन है। इसी से मनुष्य की लोकयात्रा सफल हो सकती है।

शासकवर्ग के लिए तो यह गुरु का उपदेश नितान्त आवश्यक है, क्योंकि भय से लोग प्रतिध्वनि के सदृश उनके वचनों का अनुसरण ही करते हैं, मार्गदर्शन नहीं। उन्हें उपदेश देने का साहस वही कर सकता है जो निर्भीक, प्रभावशाली एवं दृढ़निश्चयी हो और ऐसा व्यक्तित्व विरल होता है। इसके अतिरिक्त प्रबल अभिमान के कारण वे किसी की सुनते ही नहीं हैं और सुनते भी हैं तो गज के समान निमीलित नेत्रों से अवज्ञापूर्वक। उनका ऐसा आचरण हितोपदेश देने वाले गुरुजनों को खेद पहुँचाता है। इतना ही नहीं वे मिथ्याभिमान से उन्मादित हो जाते हैं और दूसरी ओर राजलक्ष्मी उन्हें राजसत्ता रूपी विष चढ़ाकर भोगविलास रूपी तन्द्रा में जकड़ लेती है। अतः उन्हें गुरूपदेश का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए ताकि वे सत्ता के मद में विवेकहीन होकर अनर्थ को निमन्त्रण न दें।

वस्तुतः तो गुरु के उपदेश का महत्त्व एवं औचित्य शुकनास द्वारा युवराज चन्द्रापीड को कहे गए इन निर्देशों में ही निहित है-'..........लोग तुम पर हँसे नहीं, साधुनजन निन्दा न करें, गुरुजन धिक्कार न दें, मित्र उपालम्भ न दें, विद्वान् शोक न करें, कामीजन तुम्हारी बुराई न करें, चतुर ठग न सकें, भुजङ्ग

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

(लम्पट) अपना भक्षण न बना लें, भृत्यगण लूटें नहीं, धूर्त छल न सकें, स्त्रियाँ लुभा न सकें, लक्ष्मी तुम्हारी विडम्बना न करे, अहङ्कार नचाये नहीं, काम प्रमादी न बना दे, विषय कुपथ पर न ले जाये, राग अपनी ओर न खींच सके और सुख अपने अधीन न कर ले......... ।[50]

एक गुरु का शिष्य के प्रति दिया गया यह निर्देश प्रत्येक कल्याण के अभिलाषी के लिए है जिससे कि उसकी दुरवस्था न हो जाए और एक सद्गुरु का अभिलाष भी यही होता है। गुरु की निर्मल शिक्षाओं से व्यक्ति के अन्तःकरण का प्रक्षालन हो जाता है और वह ऐसा हो जाता है मानों स्नान के बाद अङ्गराग एवं अलङ्करण आदि से पवित्र होता हुआ चमचमा उठा हो। गुरु तत्त्व की सत्ता और गुरु के उपदेश का औचित्य अब और अधिक व्याख्या की अपेक्षा नहीं करता है, क्योंकि जिसे इसमें सन्देह है, उसके लिए 'कादम्बरी' का 'शुकनासोपदेश' संज्ञक अंश ही प्रत्युत्तर के रूप में पर्याप्त है। गुरु तो ज्ञान (भारती) का सागर है जिसमें से शिष्य जितना भी ले ले कम है और गुरु कितना भी दे दे कभी रिक्त नहीं होता है, क्योंकि सत्पात्र को विद्यादान से विद्या बढ़ती है।[51] वस्तुतः तो 'हमारे जीवन में गुरु का क्या महत्त्व है?' इसका उत्तर तो हमारे अन्तर् में ही विद्यमान है। विमल हृदय व्यक्ति इसका आत्मालोचन कर सकता है।

सन्दर्भः-

1. श्री शंकराचार्य, (स्वामी संवित् सोमगिरि, संवित् साधनायन, अर्बुदाचल, 1987), पृ. 46-47
2. 'गृ शब्दे' धातु, 'कृग्रोरुच्च' (उणादि सूत्र 1.24) से 'उ' प्रत्यय होकर बना 'गुरु' शब्द।
3. शृणुष्वावहितो विद्वन्यन्मया समुदीर्यते।
   तदेतच्छ्रवणात्सद्यो भवबन्धाद्विमोक्ष्यसे ।। - विवेक-चूड़ामणि, (श्री शंकराचार्य),श्लोक, 70
4. 'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया'।- रघुवंश (कालिदास), 14.46
5. बृहदारण्यक उपनिषद् 1.3.28
6. अज्ञान से उत्पन्न भ्रान्त भावनाओं को और बन्धन की प्रतीति को हटाना मात्र ही साधना है।
7. वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
   एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्।। - मनुस्मृति, 2.136
8. भगवद् गीता, 4.38
9. यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।
   शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। - गीता, 2.7
10. गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
    या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।। - महाभारत
11. सप्तम शताब्दी में संस्कृत के महाकवि बाणभट्ट द्वारा रचित गद्यकाव्य।
12. प्रसिद्ध वाक्य

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

13. केवलं च निसर्गत एवाभानुच्छेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्। -कादम्बरी (बाणभट्ट, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 2002), पृ.215
14. अपरिणामोपशमो दारुणो लक्ष्मीमदः।- वही, पृ. 215
15. कष्टमनञ्जनवर्तिसाध्यमपरमैश्वर्यतिमिरान्धत्वम्। - वही, पृ. 215
16. अशिशिरोपचारहार्योऽतितीव्रो दर्पदाहज्वरोष्मा। - वही, पृ.216
17. ब्रह्मानन्दनिधिर्महाबलवताहङ्कारघोराहिना,
    संवेष्ट्यात्मनि रक्ष्यते गुणमयैश्चण्डैस्त्रिभिर्मस्तकैः।
    विज्ञानाख्यमहासिना द्युतिमता विच्छिद्य शीर्षत्रयं,
    निर्मूल्याहिमिमं निधिं सुखकरं धीरोऽनुभोक्तुं क्षमः ।।
    यावद्वा यत्किञ्चिद्विषदोषस्फूर्तिरस्ति चेद्देहे।
    कथमारोग्याय भवेत्तद्वदहन्तापि योगिनो मुक्त्यै ।। - विवेक- चूडामणि, श्लोक सं. 303-04
18. तस्मादहङ्कारमिमं स्वशत्रुं, भोक्तुर्गले कण्टकवत्प्रतीतम्।
    विच्छिद्य विज्ञानमहासिना स्फुटं, भुङ्क्ष्वात्मसाम्राज्यसुखं यथेष्टम्।। - वही, श्लोक सं. 308
19. गर्भेश्वरत्वमभिनवयौवनत्वमप्रतिमरूपत्वममानुषशक्तित्वं चेति महतीयं खल्वनर्थपरम्परा सर्वा। अविनयाना-मेकैकमप्येषामायतनम्, किमुत समवायः।- कादम्बरी, पृ. 216
20. यौवनारम्भे च प्रायः शास्त्रजलप्रक्षालननिर्मलापि कालुष्यमुपयाति बुद्धिः। अनुज्झितधवलतापि सरागैव भवति यूनां दृष्टिः। अपहरति च वात्येव शुष्कपत्रं समुद्भूतरजोभ्रान्तिरतिदूरमात्मेच्छया यौवनसमये पुरुषं प्रकृतिः। - वही, पृ.216
21. गीता, 14.7
22. इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च।
    पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ।। -मनुस्मृति, 12.52
23. इयं हि खड्गमण्डलोत्पलवनविभ्रमभ्रमरी लक्ष्मीः क्षीरसागरात्पारिजातपल्लवेभ्यो रागम्, इन्दुशकलादेकान्तवक्रताम्, उच्चैःश्रवसश्चञ्चलताम्, कालकूटान्मोहनशक्तिम्, मदिराया मदम्, कौस्तुभमणेर्नैष्ठुर्यम्, इत्येतानि सहवास-परिचयवशाद्विरहविनोदचिह्नानि गृहीत्वैवोद्गता। -कादम्बरी, पृ. 219
24. अप्राप्त की प्राप्ति का नाम 'योग' है। प्राप्त वस्तु की रक्षा का नाम 'क्षेम' है।
25. अज्ञानमालस्यजडत्वनिद्राप्रमादमूढत्वमुखास्तमोगुणाः।
    एतैः प्रयुक्तो न हि वेत्ति किञ्चिन्निद्रालुवत्स्तम्भवदेव तिष्ठति ।। - विवेक-चूडामणि, श्लोक, 118
26. यथा-यथा चेयं चपला दीप्यते तथा तथा दीपशिखेव कज्जलमलिनमेव कर्म केवलमुद्वमति।-कादम्बरी, पृ.222
27. परामर्शधूमलेखा सच्चरितचित्राणाम्। -वही, पृ. 223
28. तिमिरोद्गतिः शास्त्रदृष्टीनाम्। - वही, पृ. 223
29. त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। - गीता, 16.21

30. कुलीरा इव तिर्यक्परिभ्रमन्ति। -कादम्बरी, पृ. 225

31. कामः क्रोधो लोभदम्भाद्यसूयाहङ्कारेर्ष्यामत्सराद्यास्तु घोराः।
धर्मा एते राजसाः पुम्प्रवृत्तिर्यस्मादेषा तद्रजो बन्धहेतुः।। - विवेक- चूडामणि, श्लोक 114

32. अकालकुसुमप्रसवा इव मनोहराकृतयोऽपि लोकविनाशहेतवः। - कादम्बरी, पृ. 226

33. दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्।। - मनुस्मृति, 7.28

34. तदवस्थाश्च व्यसनशतसंख्यतामुपगता वल्मीकतृणाग्रावस्थिता जलबिन्दव इव पतितमप्यात्मानं नावगच्छन्ति। -कादम्बरी, पृ. 227

35. किरातार्जुनीयम् (भारवि), 1.5

36. मनसा देवताध्यारोपणविप्रतारणादसद्भूतसंभावनोपहताश्चान्तःप्रविष्टापरभुजद्वयमिवात्मबाहुयुगलं संभावयन्ति। त्वगन्तरिततृतीयलोचनं स्वललाटमाशङ्कन्ते। - कादम्बरी, पृ. 228

37. नीतिशतक (भर्तृहरि), श्लोक सं. 10

38. मनुस्मृति, 2.156

39. कुमारसम्भव (कालिदास), 5.16

40. अतीतज्योतिरालोकः। - कादम्बरी, पृ. 218

41. गुरुश्छत्रं। गुरुणा शिष्यश्छत्रवच्छाद्यः। शिष्येण च गुरुश्छत्रवत्परिपाल्यः। छत्रधारणं शीलं यस्य सः छात्रः।
- 'छत्रादिभ्यो णः' (4.4.62) सूत्र पर व्याकरणमहाभाष्य (पतञ्जलि)

42. तथापि भवद्गुणसंतोषो मामेवं मुखरीकृतवान्। - कादम्बरी, पृ. 231

43. किरातार्जुनीयम्, प्रथमसर्ग, श्लोक सं. 4

44. (क) यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्। - हितोपदेश, मित्रलाभ प्रकरण, श्लोक 8
(ख) अकारणं च भवति दुष्प्रकृतेरन्वयः श्रुतं वाविनयस्य। - कादम्बरी, पृ. 218

45. हितोपदेश, श्लोक 6

46. मनुस्मृति, 2.121

47. मनुस्मृति, 2.218

48. विवेक- चूडामणि, श्लोक 26

49. गीता, 12.20

50. तदेवं 'प्रयाति' कुटिलकष्टचेष्टासहस्रदारुणे........नापह्रियसे सुखेन। - कादम्बरी, पृ.230

51. अपूर्वः कोऽपि कोशोऽयं दृश्यते तव भारति।
व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति सञ्चयात्।।

-शोधच्छात्रा, विजुअल आर्ट विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org